# जैन साधना के मनोवैज्ञानिक आधार

साधना का लक्ष्य साध्य की उपलब्धि या सिद्धि है। यह हमें बाताती है कि हमें क्या होना है, किन्तु हमें क्या होना है, यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम क्या हैं? हमारी क्षमताएँ एवं सम्भावनायें क्या हैं? ऐसा साध्य या आदर्श, जिसे उपलब्ध करने की क्षमताएँ हममे न हों, जिसको प्राप्त करना हमारे लिये सम्भव नहीं हो, एक छलना ही होगा। जैन दर्शन ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को अधिक गम्भीरता से समझा है और अपनी साधना-पद्धति को ठोस मनोवैज्ञानिक नींव पर खड़ा किया है।

**हमारा निज स्वरूप**

जैन दर्शन में मानव प्रकृति एवं प्राणीय प्रकृति का गहन विश्लेषण किया गया है। महावीर से जब यह पूछा गया कि आत्मा क्या है? आत्मा का साध्य या आदर्श क्या है? तब महावीर ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया था वह आज भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सत्य है। महावीर ने कहा था— 'आत्मा समत्व रूप है और समत्व ही आत्मा का साध्य है।' वस्तुतः जहाँ-जहाँ भी जीवन है, चेतना है, वहाँ-वहाँ समत्व संस्थापन के अनवरत प्रयास चल रहे हैं। परिवेशजन्य विषमताओं को दूर कर समत्व के लिए प्रयासशील बने रहना जीवन या चेतना का मूल स्वभाव है। शारीरिक एवं मानसिक स्तर पर समत्व का संस्थापन ही जीवन का लक्षण है। डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में जीवन गतिशील सन्तुलन है। स्पेन्सर के अनुसार परिवेश में निहित तथ्य जीवन के सन्तुलन को भंग करते रहते हैं और जीवन अपनी क्रियाशीलता के द्वारा पुनः इस सन्तुलन को बनाने का प्रयास करता है। यह सन्तुलन बनाने का प्रयास ही जीवन की प्रक्रिया है। विकासवादियों ने इसे ही अस्तित्व के लिए संघर्ष कहा है, किन्तु मेरी अपनी दृष्टि में इसे अस्तित्व के लिए संघर्ष कहने की अपेक्षा समत्व के संस्थापन का प्रयास कहना ही अधिक उचित है। समत्व के संस्थापन एवं समायोजन की प्रक्रिया ही जीवन का महत्वपूर्ण लक्षण है। समायोजन और संतुलन के प्रयासों की उपस्थिति ही जीवन है और उसका अभाव मृत्यु है। मृत्यु और कुछ नहीं, मात्र शारीरिक स्तर पर सन्तुलन बनाने की इस प्रक्रिया का असफल होकर टूट जाना है। अध्यात्मशास्त्र के अनुसार जीवन न तो जन्म है और न मृत्यु। एक उसका किसी शरीर में प्रारम्भ बिन्दु है तो दूसरा उसके अभाव की उद्घोषणा करने वाला तथ्य। जीवन इन दोनों से ऊपर है, जन्म और मृत्यु तो एक शरीर में उसके आगमन और चले जाने की सूचनाएँ भर हैं, वह इनसे अप्रभावित है। सच्चा जीवन तो आत्मचेतनता है, अप्रमत्तदशा है, समभाव में अवस्थिति है। जैन दर्शन में इसे ही स्व-स्वरूप में रमण कहा गया है।

**चेतना के तीन पक्ष और जैन दर्शन**

मनोवैज्ञानिकों ने चेतना का विश्लेषण कर उसके तीन पक्ष माने हैं— ज्ञान, अनुभूति और संकल्प। चेतना को अपने इन तीन पक्षों से भिन्न कहीं देखा नहीं जा सकता है। चेतना इन तीन प्रक्रियाओं के रूप में ही अभिव्यक्त होती है। चेतन जीवन ज्ञान, अनुभूति और संकल्प की क्षमताओं के विकास के रूप में परिलक्षित होता है। जैन विचारकों की दृष्टि में चेतना के ये तीनों पक्ष नैतिक आदर्श एवं नैतिक साधना-मार्ग से निकट रूप से सम्बन्धित हैं। जैन दर्शन में चेतना के इन तीन पक्षों के आधार पर ही नैतिक आदर्श का निर्धारण किया गया है। जैन धर्म का आदर्श मोक्ष है और मोक्ष अनन्तचतुष्टय अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति की उपलब्धि है। वस्तुतः मोक्ष चेतना के इन तीनों पक्षों की पूर्णता का द्योतक है। जीवन के ज्ञानात्मक पक्ष की पूर्णता अनन्त ज्ञान एवं दर्शन में, जीवन के भावात्मक या अनुभूत्यात्मक पक्ष की पूर्णता अनन्त सौख्य में और संकल्पात्मक पक्ष की पूर्णता अनन्त शक्ति में मानी गई है। जैन साधना-पथ भी चेतना के इन्हीं तीन तत्त्वों—ज्ञान, भाव और संकल्प के साथ सम्यक् विशेषण का प्रयोग करके निर्मित किया गया है। ज्ञान से सम्यग्ज्ञान, भाव से सम्यग्दर्शन और संकल्प से सम्यग्चारित्र का निर्माण हुआ है। इस प्रकार जैन दर्शन में साध्य, साधक और साधना-पथ इन तीनों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार हुआ है।

**जीवन का साध्यः समत्व का संस्थापन**

हमारे नैतिक आचरण का लक्ष्य क्या है? यह प्रश्न मनोविज्ञान और नैतिक दर्शन दोनों की ही दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जैन दर्शन में इसे मोक्ष कहकर अभिव्यक्त किया गया है, किन्तु यदि हम जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष का विश्लेषण करें तो मोक्ष वीतरागता की अवस्था है और वीतरागता चेतना के पूर्ण समत्व की अवस्था है। इस प्रकार जैन दर्शन में समत्व को ही नैतिक जीवन का आदर्श माना गया है। यह बात मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सही उतरती है। संघर्ष नहीं, अपितु समत्व ही जीवन का आदर्श हो सकता है, क्योंकि यह ही हमारा स्वभाव है और जो स्व-स्वभाव है वही आदर्श है। स्वभाव से भिन्न आदर्श की कल्पना अयथार्थ है। स्पेन्सर, डार्विन एवं आर्म्स प्रभृति कुछ पाश्चात्य विचारक संघर्ष को ही जीवन का स्वभाव मानते हैं, लेकिन यह एक मिथ्या धारणा है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार वस्तु का स्वभाव वह होता है जिसका निराकरण नहीं किया जाता। जैन दर्शन के अनुसार नित्य और निरापवाद वस्तु धर्म ही स्वभाव है। यदि हम इस कसौटी पर कसें, तो संघर्ष जीवन का स्वभाव सिद्ध नहीं होता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य-स्वभाव संघर्ष है, मानवीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतिहास वर्ग-संघर्ष की कहानी है। संघर्ष ही जीवन का नियम है। किन्तु यह एक मिथ्या धारणा है। यदि संघर्ष ही जीवन का नियम है तो फिर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद संघर्ष का निराकरण क्यों करना चाहता है? संघर्ष मिटाने के लिए होता है; जो मिटाने की, निराकरण करने की वस्तु है, क्या उसे स्वभाव कहा जा सकता है? संघर्ष यदि मानव इतिहास का एक तथ्य है तो वह उसके दोषों का, उसके विभाव का इतिहास है, उसके स्वभाव का इतिहास नहीं। मानव-स्वभाव संघर्ष नहीं, संघर्ष का निराकरण या समत्व की अवस्था है, क्योंकि युगों से मानवीय प्रयास उसी के लिए हो रहे हैं। सच्चा मानव इतिहास संघर्ष की कहानी नहीं, संघर्षों के निराकरण की कहानी है।

संघर्ष अथवा समत्व से विचलन जीवन में पाये जाते हैं, लेकिन वे जीवन के स्वभाव नहीं क्योंकि जीवन की प्रक्रिया उनके समाप्त करने की दिशा में ही प्रयासशील है। समत्व की उपलब्धि ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवन का साध्य है। समत्व शुभ और विषमता अशुभ है। कामना, आसक्ति, राग-द्वेष, वितर्क आदि सभी जीवन की विषमता, असन्तुलन एवं तनाव की अवस्था को अभिव्यक्त करते हैं, अत: जैन दर्शन में इन्हें अशुभ माना गया है। इसके विपरीत वासनाशून्य, वितर्कशून्य, निष्काम, अनासक्त, वीतराग अवस्था ही नैतिक शुभ है, वही जीवन का आदर्श है, क्योंकि वह समत्व की स्थिति है। जैन दर्शन के अनुसार समत्व एक आध्यात्मिक सन्तुलन है। राग और द्वेष की वृत्तियाँ हमारे चेतन समत्व को भंग करती हैं। अत: उनसे ऊपर उठकर वीतरागता की अवस्था को प्राप्त कर लेना ही सच्चे समत्व की अवस्था है। वस्तुत: समत्व की उपलब्धि जैन दर्शन और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों की दृष्टि से मानव जीवन का साध्य मानी जा सकती है।

### नैतिक साधना का लक्ष्य आत्मपूर्णता के रूप में

जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष आत्मपूर्णता की अवस्था भी है और पूर्ण समत्व के लिए आत्मपूर्णता भी आवश्यक है, क्योंकि अपूर्णता या अभाव भी एक मानसिक तनाव है। हमारे व्यावहारिक जीवन में हमारे सम्पूर्ण प्रयास, हमारी चेतना के ज्ञानात्मक, भावात्मक और संकल्पात्मक शक्तियों के विकास के निमित्त होते हैं। हमारी चेतना सदैव ही इस दिशा में प्रयत्नशील होती है कि वह अपने इन तीनों पक्षों की देश-कालगत सीमाओं का अतिक्रमण कर सके। व्यक्ति अपनी ज्ञानात्मक, भावात्मक और संकल्पात्मक क्षमता की पूर्णता चाहता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य अपनी सीमितता और अपूर्णता से छुटकारा पाना चाहता है। वस्तुत: मानव मन की इस स्वाभाविक इच्छा की पूर्ति ही जैन दर्शन में मोक्ष के प्रत्यय के रूप में अभिव्यक्त हुई है। सीमितता और अपूर्णता, जीवन की वह प्यास है जो पूर्णता के जल से परिशान्त होना चाहती है। हमारी चेतना में जो अपूर्णता का बोध है वह स्वयं ही हमारे अन्तस में निहित पूर्णता की चाह का संकेत भी है। पाश्चात्य विचारक ब्रेडले का कथन है कि चेतना अनन्त है, क्योंकि वह अनुभव करती है कि उसकी क्षमतायें सान्त एवं सीमित हैं। सीमा या अपूर्णता को जानने के लिए असीम एवं पूर्ण का बोध भी आवश्यक है। जब हमारी चेतना यह ज्ञान रखती है कि वह सान्त, सीमित एवं अपूर्ण है, तो उसका सीमित होने का यह ज्ञान ही स्वयं उसे इस सीमा के परे ले जाता है। इस प्रकार ब्रेडले स्व में निहित पूर्णता की चाह का संकेत करते हैं।[४] आत्मा पूर्ण है अर्थात् अनन्त चतुष्टय से युक्त है, यह बात जैन दर्शन के एक विद्यार्थी के लिए नहीं है। वस्तुत: जैन दर्शन के अनुसार पूर्णता हमारी क्षमता है, योग्यता नहीं। पूर्णता के प्रकाश में हमें अपनी अपूर्णता का बोध होता है। यह अपूर्णता का बोध पूर्णता की चाह का संकेत अवश्य है, लेकिन पूर्णता की उपलब्धि नहीं। यह आत्मपूर्णता ही हमारा साध्य है। जैन दर्शन की दृष्टि से हमारा ज्ञान, भाव और संकल्प की शक्तियों का अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति के रूप में विकसित हो जाना ही आत्मपूर्णता है। आत्मशक्तियों का अनावरण एवं उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति में ही आत्मपूर्णता है और यही नैतिक जीवन का साध्य है। इस प्रकार जैन दर्शन का आत्मपूर्णता का नैतिक साध्य भी मानवीय चेतना के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर ही आधारित है।

### साध्य, साधक और साधना का पारस्परिक सम्बन्ध

जैन आचार दर्शन में साध्य और साधक में अभेद माना गया है। समयसार टीका में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि लिखते हैं कि परद्रव्य का परिहार और शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि ही सिद्धि है।[५] आचार्य हेमचन्द्र साध्य और साधक में अभेद बताते हुए लिखते हैं कि कषायों और इन्द्रियों से पराजित आत्मा ही संसार है और उनको विजित करने वाली आत्मा ही प्रबुद्ध पुरुषों द्वारा मोक्ष कही जाती है।[६] अध्यात्मतत्त्वालोक में मुनि न्यायविजयजी कहते हैं कि आत्मा ही संसार है और आत्मा ही मोक्ष है। जहाँ तक आत्मा कषाय और इन्द्रियों के वशीभूत है, संसार है और जब उनको ही अपने वशीभूत कर लेता है, मोक्ष कहा जाता है।[७] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन का नैतिक साध्य और साधक दोनों ही आत्मा है। दोनों में मौलिक अन्तर यही है कि आत्मा जब तक विषय और कषायों के वशीभूत होता है तब तक बन्धन में होता है और जब उन पर विजय लाभ कर लेता है तब वही मुक्त बन जाता है। आत्मा की वासनाओं के मल से युक्त अवस्था ही उसका बन्धन कही जाती है और विशुद्ध आत्म-तत्त्व की अवस्था ही मुक्ति कही जाती है। आसक्ति को बन्धन और अनासक्ति को मुक्ति मानना एक मनोवैज्ञानिक सत्य है।

जैन दर्शन में साध्य और साधक दोनों में अन्तर इस बात को लेकर है कि आत्मा की विभाव अवस्था ही साधक अवस्था है और आत्मा की स्वभाव अवस्था ही सिद्धावस्था है। जैन साधना का लक्ष्य अथवा आदर्श कोई बाह्य तत्त्व नहीं, वह तो साधक का अपना ही निज रूप है। उसकी ही अपनी पूर्णता की अवस्था है। साधक का आदर्श उसके बाहर नहीं वरन् उसके अन्दर ही है। साधक को उसे पाना भी नहीं है, क्योंकि पाया तो वह जाता है, जो व्यक्ति में अपने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में नहीं हो अथवा अपने से बाह्य हो। नैतिक साध्य बाह्य उपलब्धि नहीं, आन्तरिक उपलब्धि है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह निज गुणों का पूर्ण प्रकटन है। यहाँ भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि आत्मा के निज गुण या स्व लक्षण तो सदैव ही उसमें उपस्थित हैं, साधक को केवल उन्हें प्रकटित करना है। हमारी क्षमताएँ साधक अवस्था और सिद्ध अवस्था में वही हैं। साधक और सिद्ध अवस्था में अन्तर क्षमताओं का नहीं, वरन् क्षमताओं को योग्यताओं में बदल देने का है। जैसे बीज वृक्ष के रूप में विकसित होता है वैसे ही मुक्तावस्था में आत्मा के निज गुण पूर्ण रूप में प्रकटित हो जाते हैं। साधक आत्मा के ज्ञान, भाव (अनुभूति) और संकल्प के तत्त्व ही मोक्ष की अवस्था में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति के रूप में प्रकट हो जाते हैं। वह आत्मा जो कषाय और राग-द्वेष से युक्त है और इनसे युक्त होने के कारण बद्ध, सीमित और अपूर्ण है, वही आत्मा अपने अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति के रूप में मुक्त एवं पूर्ण बन जाता है। उपाध्याय अमरमुनिजी के शब्दों में— "जैन साधना में स्व में स्व को उपलब्ध करना है, निज में निज का शोध करना है, अनन्त में पूर्ण रूपेण रमण होना है—आत्मा के बाहर एक कण में भी साधना की उन्मुखता नहीं है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन विचारणा में तात्त्विक दृष्टि से साध्य और साधक दोनों एक ही हैं, यद्यपि पर्यायार्थिक दृष्टि या व्यवहारनय से उनमें भेद माना गया है। आत्मा की स्वभाव पर्याय या स्वभाव दशा साध्य है और आत्मा की विभाव पर्याय की अवस्था ही साधक है तथा विभाव से स्वभाव की ओर आना ही साधना है।

**साधना-पथ और साध्य**—जिस प्रकार साधक और साध्य में अभेद माना गया है, उसी प्रकार साधना-मार्ग और साध्य में भी अभेद है। जीवात्मा अपने ज्ञान, अनुभूति और संकल्प के रूप में साधक कहे जाते हैं, उसके यही ज्ञान, अनुभूति और संकल्प सम्यक्-दिशा में नियोजित होने पर साधना-पथ बन जाते हैं, वे जब अपनी पूर्णता को प्रकट कर लेते हैं तो सिद्ध बन जाते हैं। जैन दर्शन के अनुसार सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र और सम्यग्तप अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति रूपी अनन्त चतुष्टय की उपलब्धि कर लेते हैं तो यही अवस्था सिद्ध बन जाती है। आत्मा का ज्ञानात्मक पक्ष सम्यग्ज्ञान की साधना के द्वारा अनन्त ज्ञान को प्रकट कर लेता है, आत्मा का अनुभूत्यात्मक पक्ष सम्यग्दर्शन की साधना के द्वारा अनन्त दर्शन की उपलब्धि कर लेता है, आत्मा का संकल्पात्मक पक्ष सम्यग्चारित्र की साधना के द्वारा अनन्त आनन्द की उपलब्धि कर लेता है और आत्मा की क्रियाशक्ति सम्यग्तप की साधना के द्वारा अनन्त शक्ति को उपलब्ध कर लेता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो साधक चेतना का स्वरूप है वही सम्यक् बन कर साधना-पथ बन जाता है और उसी की पूर्णता साध्य होती है। साधना-पथ और साध्य दोनों आत्मा की ही अवस्थायें हैं। आत्मा की सम्यक् साधना पथ है और पूर्ण अवस्था साध्य है।

**सन्दर्भ :**

१. जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, डॉ० राधाकृष्णन्, प्रका०राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६७, पृ० २५९।
2. First Principles, Herbert spencer, pub. watts & co. London, VIIth Ed. p. 66.
३. Five Types of Ethical Theories, p. 16.
४. Ethical Studies, F.H. Bradlay, Oxford Universtiy Press London,, 1935, Chapter II.
५. समयसार टीका, अमृतचन्द्र, प्रका०- अहिंसा प्रकाशन मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली, १९५९, ३०५।
६. योगशास्त्र, सम्पा० मुनि समदर्शी, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा १९६३, ४/५।
७. अध्यात्मतत्त्वालोक, मुनि न्यायविजय, प्रका० श्री हेमचन्द्राचार्य जैन सभा (पाटण), १९४३, ४/७।